सत्य-धर्म

लेखक :—

सय्यद अबुल आला मौदूदी

मक्तबा जमाअते इस्लामी (हिन्द)

रामपुर उ० प्र०

Agency Ma[illegible] Hind
Amin-ud-daula Park, Lucknow

प्रथम बार
फरवरी १९५४

मूल्य ।=)

सय्यद अब्दुल क़ादिर के प्रबन्ध से हिन्दुस्तान प्रेस रामपुर में मुद्रित होकर अखिल भारतीय मक्तबा जमाअते इस्लामी रामपुर से प्रकाशित हुआ।

सत्यधर्म

लेखक—मौलाना सैय्यद अबुलआला मौदूदी

क़ुर्आन जिस दावे के साथ मानव जाति को अपने प्रस्तुत किये हुए मार्ग की ओर बुलाता है वह स्वयं उसके अपने शब्द में यह है—

ان الدين عند الله الاسلام

इन्नद् दीन इन्दल्लाहिल इस्लाम !

यही छोटा सा वाक्य मेरा विषय है। अधिक विस्तार का अवसर नहीं, संक्षेप में मैं पहले उसके अर्थ की व्याख्या करूंगा जिससे स्पष्ट हो जायगा कि इस वाक्य में किस बात का दावा किया गया है। फिर इस प्रश्न पर विचार करूँगा कि यह दावा स्वीकार किया जाना चाहिये या नहीं, और अन्त में यह बयान करूंगा कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो फिर इसे स्वीकार कर लेने के तक़ाज़े क्या हैं ?

साधारणतया इस वाक्य का जो सीधा-सादा अर्थ बयान किया जाता है वह यह है कि "सत्यधर्म तो ईश्वर के निकट केवल इस्लाम ही है।" और इस्लाम की जो धारणा साधारणतः लोगों के मस्तिष्क

में है वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि यह एक धर्म का नाम है जिसने अब से तेरह सौ वर्ष पहले अरब में जन्म लिया था और जिस की स्थापना हज़रत मोहम्मद صلے الله علیه و سلم ने की थी। "स्थापना की थी" का शब्द मैं जानबूझ कर इस लिये प्रयोग कर रहा हूँ कि केवल गैर मुस्लिम ही नहीं बल्कि बहुत से मुसलमान और अच्छे खासे विद्वान मुसलमान भी हज़रत मुहम्मद صلے الله علیه و سلم को "इस्लाम का स्थापक" कहते और लिखते हैं। मानो उनके निकट इस्लाम का आरंभ हज़रत मुहम्मद द्वारा ही हुआ है और आप ही उसके स्थापक या (Founder) है। अतः जब एक अमुस्लिम .कुर्आन का अध्ययन करते हुए इस वाक्य पर पहुँचता है तो वह यह सोच कर सरसरी तौर पर उस स्थान से गुजर जाता है कि जिस प्रकार प्रत्येक धर्म केवल अपने ही सत्य होने और दूसरे धर्मों के असत्य होने का दावेदार है उसी प्रकार .कुर्आन ने भी अपने प्रस्तुत किये हुए धम के सत्य होने का दावा कर दिया है; और जब एक मुसलमान उसे पढ़ता है तो वह इस लिये इस पर विचार करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझता कि जिस धर्म को इस वाक्य में सत्य कहा गया है उसे वह स्वय भी सत्य मानता है या यदि सोच विचार के लिये उसके मस्तिष्क में कोई प्रेरणा उत्पन्न भी होती है तो वह साधारणतः यह रूप ग्रहण कर लेती है कि ईसाइयत, हिन्दूधर्म, बौद्ध मत और ऐसे ही दूसरे धर्मों से इस्लाम की समानता करके उसकी सत्यता प्रमाणित की जाय। किन्तु वास्तव में .कुर्आन में यह स्थान ऐसा है जिस पर एक गम्भीर विद्यार्थी को रुक कर बहुत विचार करना चाहिये, इस से अधिक विचार करना चाहिये जितना अब तक उस पर विचार किया गया है।

.कुर्आन के इस दावे को समझने के लिये सबसे पहले हमें "अल-दीन" और "अल-इस्लाम," का अर्थ निश्चित कर लेना चाहिये!

'अल-दीन का अर्थः—

अरबी भाषा में 'दीन' शब्द कई अर्थों में आता है, उसका एक अर्थ सत्ता और प्रभुत्व है, दूसरा अर्थ दासता और आज्ञा पालन, तीसरा अर्थ बदला, और पुरस्कार, चौथा अर्थ मार्ग और प्रणाली। यहाँ इस शब्द का इसी चौथे अर्थ में प्रयोग किया गया है। अर्थात् दीन का अभिप्राय वह जीवन-प्रणाली या विचार एवं आचरण की वह पद्धति है जिसका पालन किया जाय। लेकिन यह याद रहे कि क़ुर्आन केवल "दीन" नहीं कह रहा है बल्कि 'अल-दीन" कह रहा है। इससे अर्थ में वही अन्तर पड़ जाता है जो अंग्रेज़ी भाषा में This is a way कहने के स्थान पर This is the way कहने से पड़ता है। अर्थात् क़ुर्आन का दावा यह नहीं है कि ईश्वर के निकट इस्लाम एक जीवन-प्रणाली है बल्कि उसका दावा यह है, कि इस्लाम ही एक सत्य और वास्तविक जीवन-प्रणाली या विचारशैली अथवा आचरण-पद्धति है। फिर यह बात भी ध्यान में रहे कि क़ुर्आन इस शब्द का प्रयोग किसी सीमित अर्थ में नहीं अपितु अधिक विस्तृत अर्थ में करता है। जीवन-प्रणाली से उसका उद्देश्य जीवन के किसी विशेष पहलू या किसी विशेष विभाग की प्रणाली नही बल्कि सम्पूर्ण जीवन की प्रणाली है, अलग-अलग एक-एक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन ही की प्रणाली नहीं बल्कि सामूहिक रूप में पूरे समाज की जीवन प्रणाली भी है। एक विशेष देश या एक विशेष राष्ट्र या एक विशेष काल की जीवनप्रणाली नही बल्कि समस्त कालों में, समस्त मनुष्यों की व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनप्रणाली है। अतः क़ुर्आन के दावे का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर के निकट पूजा-पाठ और परलोक के विश्वास और मृत्यु के पश्चात जीवन की कल्पना का एक यथार्थ संग्रह वही है जिसका नाम इस्लाम है और न उसका अर्थ यह है कि समस्त मनुष्यों की धार्मिक विचार और कर्म की नीति (जैसा कि "धार्मिक" शब्द का आजकल की

पश्चिमी परिभाषा में लिया जाता है) का एक वास्तविक रूप वही है जिसे इस्लाम कहा गया है न उसका अर्थ यह है कि अरब के लोगों या अमुक शताब्दी तक के मनुष्यों या अमुक युग, उदाहरणतः औद्योगिकक्रांति से पहले तक के मनुष्यों के लिये एक वास्तविक जीवन व्यवस्था वही है जिसको इस्लाम का नाम दिया गया है. बल्कि स्पष्ट रूप से उसका दावा यह है कि हर काल और हर युग में समस्त मनुष्यों के लिये पृथ्वी पर जीवन व्यतीत करने का एक ही ढंग ईश्वर के निकट यथार्थ है और वह ढंग वही है जिसका नाम "अल-इस्लाम" है। मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि एशिया और यूरोप के बीच किसी स्थान पर .कुर्आन की कोई नई टीका की गई है जिसके अनुसार "दीन" का अर्थ केवल मनुष्य और ईश्वर के व्यक्तिगत सम्बन्ध तक सीमित है और संस्कृत एवं राजनीति की व्यवस्था से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह टीका यदि स्वयं .कुर्आन द्वारा प्राप्त की गई है तो अवश्य बड़ी मनोरंजक वस्तु होगी, परन्तु मैंने अठारह वर्ष तक .कुर्आन का जो अन्वेषणात्मक अध्ययन किया है उसके आधार पर मैं बिना खंडनमय कहता हूँ कि कुर्आन अपने समस्त आधुनिक भाष्यकारों की इच्छाओं के विरुद्ध "अल-दीन" के शब्द का किसी सीमित अर्थ में प्रयोग नहीं करता बल्कि समस्त युगों के समस्त मनुष्यों के लिये उनके सम्पूर्ण जीवन की विचार एवं आचरण की व्यवस्था के अर्थ में प्रयोग करता है !

'अल-इस्लाम' का अर्थः—

अब "इस्लाम" शब्द को लीजिये, अरबी भाषा में इसके अर्थ हैं हथियार डाल देना, झुक जाना, आज्ञा-पालन स्वीकार कर लेना, अपने आप को समपर्ण कर देना। किन्तु .कुर्आन केवल इस्लाम नहीं बोलता, बल्कि "अल-इस्लाम" बोलता है, जो उसका मुख्य पारि-

भाषिक शब्द है। इस पारिभाषिक शब्द से उसका उद्देश्य ईश्वर के आगे झुक जाना, उसका आज्ञा-पालन स्वीकार कर लेना, उसके सम्मुख अपनी स्वतंत्रता से अधिकार रहित हो जाना और अपने आपको उसे समर्पित कर देना है। इस स्वीकृति, आज्ञा-पालन, और समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि प्राकृतिक-नियमों के आगे हथियार डाल दिया जाय, जैसा कि कुछ लोगों ने इसका अर्थ निश्चित करने की चेष्टा की है. न उसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी कल्पना या अपने निरीक्षणों और अनुभवों से ईश्वर की प्रसन्नता और उसकी इच्छा की जो धारणा अपने आप ग्रहण कर ले उसी का आज्ञा-पालन करने लगे, जैसा कि कुछ और लोगों ने अपनी भूल से समझ लिया है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने स्वयं अपने सन्देष्टाओं (रसूलों) द्वारा मनुष्य के लिये जिस विचार-प्रणाली और कर्म-नीति की ओर पथ-प्रदर्शन किया है उसको वह स्वीकार कर ले और अपने विचार तथा आचरण की स्वतंत्रता या उच्छृंखलता छोड़ कर उसके आज्ञा का पालन और उसका अनुसरण ग्रहण कर ले, इसी वस्तु को क़ुरआन "अल-इस्लाम" कहता है। और यह वास्तव में कोई नव कालीन धर्म नहीं है जिसकी स्थापना अब से १३३३ वर्ष पहले अरब में हज़रत मुहम्मद (उन पर ईश्वर की दया और कृपा हो) ने की बल्कि जिस दिन पहली बार इस पृथ्वी पर मनुष्य प्रगट हुआ उसी दिन ईश्वर ने मनुष्य को बना दिया था कि तेरे लिये केवल "अल-इस्लाम" ही एक वास्तविक कार्य-प्रणाली है। और उसके पश्चात् संसार के विभिन्न भागों में समय-समय पर जो सन्देष्टा (रसूल) भी ईश्वर की ओर से मनुष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिये नियुक्त हुए हैं उन सबका बुलावा भी समान रूप से इसी "अल-इस्लाम" की ओर रहा है जिसकी ओर अन्ततः हज़रत मुहम्मद (उन पर ईश्वर की दया-कृपा हो) ने संसार को निमंत्रण दिया। यह

और बात है कि मूसा (उन पर ईश्वर की सलामती हो) के अनुगामियों ने बाद में बहुत सी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का सम्मिश्रण करके एक धर्म-व्यवस्था यहूदियत के नाम से और ईसा (उन पर ईश्वर की अनुकम्पा हो) के अनुयाइयों ने एक दूसरी धर्म-व्यवस्था ईसाइयत के नाम से, और इसी प्रकार भारत, इरान, चीन और दूसरे देशों के सन्देष्टाओं (पैग़म्बरों) के अनुयाइयों ने विभिन्न प्रकार की मिली-जुली व्यवस्थायें बना ली हों, किन्तु मूसा और ईसा और दूसरे समस्त प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध पैग़म्बर एवं देश-दूत जिस धर्म का बुलावा देने आये वह केवल इस्लाम था न कि कुछ और।

क़ुर्आन का दावा क्या है ?:—

इस व्याख्या के बाद क़ुर्आन का दावा प्रकट और स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाता है और वह यह है:—

"मनुष्यजाति के लिये ईश्वर के निकट केवल यही एक ठीक जीवन-प्रणाली है कि वह ईश्वर की आज्ञाओं के आगे नत-मस्तक हो जाये और विचार और कार्य के उस मार्ग पर चले जिसकी ओर ईश्वर ने अपने पैग़म्बरों द्वारा पथ-प्रदर्शन किया है !"

यह है क़ुर्आन का दावा। अब हमें इसकी विवेचना करनी है कि क्या यह दावा स्वीकार किया जाना चाहिये ? स्वयं क़ुर्आन ने अपने इस दावे के समर्थन में जो तर्क उपस्थित किये हैं उन पर तो हम विचार करेंगे ही किन्तु क्यों न इससे पहले स्वयं अपनी जगह समीक्षा एवं अन्वेषण द्वारा यह मालूम कर लें कि क्या हमारे लिये इस दावे को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई और उपाय भी है ?

जीवन-प्रणाली की आवश्यकता:—

यह प्रकट है कि संसार में मनुष्य को जीवन व्यतीत करने के

लिये हर स्थिति में एक जीवन-प्रणाली आवश्यक है जिसे वह ग्रहण करे। मनुष्य नदी नहीं है जिसका मार्ग पृथ्वी की ऊँचाई-नीचाई से स्वयं बन जाता है, मनुष्य वृक्ष नहीं है जिसके लिये प्राकृतिक नियम एक मार्ग निश्चित कर देते हैं, मनुष्य निरा पशु भी नहीं है जिसके पथ-प्रदर्शन के लिये केवल प्रकृति पर्याप्त हो जाती है। अपने जीवन के एक बड़े भाग में प्राकृतिक नियमों का दास होते हुए भी मनुष्य जीवन के बहुत से ऐसे पहलू रखता है जिसमें उसे कोई लगा बँधा मार्ग नहीं मिलता कि पशुओं के समान विवश रूप से उस पर चलता रहे, बल्कि उसको अपनी इच्छा से ख़ुद एक मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। उसको विचार का मार्ग चाहिये जिस पर वह अपनी और सृष्टि की उन बहुत सी समस्याओं को हल कर सके जिन्हें प्रकृति उसके सोचने वाले दिमाग़ के सामने उपस्थित करती है किन्तु उनका कोई हल वह सन्देह-रहित भाषा में नहीं बताती। उसको ज्ञान का एक रास्ता चाहिये जिस पर वह उन जानकारियों को संगठित कर सके जिन्हें प्रकृति उसकी इन्द्रियों द्वारा उसके मस्तिष्क तक पहुंचाती है किन्तु उन्हें स्वयं अपने ढंग पर संगठित करके उसको सौंप नहीं देती। उसको व्यक्तिगत व्यवहार के लिये एक मार्ग चाहिये जिस पर वह अपने अस्तित्व की बहुत सी उन माँगों को पूरा करे जिनके लिये प्रकृति तक़ाज़ा तो करती है किन्तु उन्हें पूरा करने की कोई सभ्य-प्रणाली निश्चित करके नहीं देती। उसको घरेलू जीवन के लिये, पारिवारिक सम्बन्धों के लिये, जीविका सम्बन्धी व्यवहारों के लिये, राष्ट्र व्यवस्था के लिये, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के लिये और जीवन के बहुत से दूसरे पहलुओं के लिये भी एक मार्ग आवश्यक है जिस पर वह केवल एक व्यक्ति हा क रूप से ही नहीं बल्कि एक समाज, एक राष्ट्र, एक जाति के रूप से भी चलें और उन उद्देश्यों तक पहुंच सकें जो यद्यपि स्वभावतः उसके उद्देश्य और अभिप्राय हैं किन्तु प्रकृति ने न तो उन उद्देश्यों को

खुले तौर पर उपके सामने प्रकट किया है और न उन तक पहुँचने का एक मार्ग निश्चित कर दिया है।

जीवन अविभाज्य है:—

जीवन के यह विभिन्न पहलू जिनमें कोई एक ढंग ग्रहण करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है अपने स्थान पर स्वयं स्थाई और एक दूसरे से असम्बद्ध विभाग या मुहकमे नहीं हैं कि उनमें से प्रत्येक के लिये मनुष्य अलग-अलग मार्ग ग्रहण कर सकता हो जिनकी दिशायें अलग हों, जिनकी याग-सामग्रियाँ अलग हों, जिन पर चलने के ढंग और प्रणालियाँ अलग हों, जिनकीं यात्रा के उद्देश्य अलग हों और जिनके यात्रा-लक्ष्य अलग हों। मनुष्य और उसके जीवन की समस्याओं को समझने की एक तनिक-सी बुद्धि-युक्त चेष्टा मनुष्य को इस बात पर संतुष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि जीवन सामूहिक रूप से एक सर्वस्व है, जिसका हर भाग दूसरे भाग से और हर पहलू दूसरे पहलू से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है, ऐसा सम्बन्ध रखता है जो तोड़ा नहीं जा सकता। हरएक दूसरे पर प्रभाव डालता है और उससे प्रभाव स्वीकार करता है। एक ही रक्त उसकी रगों में चक्कर लगाता है, एक ही आत्मा सब में स्थान किये हुए होती है और सब मिलकर यह चीज़ बनाते हैं जिसे भाग्य-जीवन कहा जाता है। अतः वास्तव में जो वस्तु मनुष्य के लिये आवश्यक है वह जीवन के बहुत से उद्देश्य नहीं हैं बल्कि एक उद्देश्य है जिसके अन्तर्गत सारे छोटे-बड़े उद्देश्य पूर्ण सहयोग के साथ अपने-अपने स्थान ग्रहण कर सकें और जिसकी प्राप्ति की चेष्टा में वह समस्त उद्देश्य प्राप्त हो जायें। उसको मार्गों की नहीं बल्कि केवल एक मार्ग की आवश्यकता है जिस पर वह अपने समस्त जीवन को उसके समस्त पहलुओं समेत पूरी समानता के साथ अपने जीवन-लक्ष्य की ओर ले चले। उसको विचार, ज्ञान, साहित्य,

कला, शिक्षा, धर्म, नीति, समाज, जीविका, राजनीति, विधान आदि के लिये अलग-अलग व्यवस्थायें नहीं बल्कि एक पूर्ण व्यवस्था आवश्यक है जिसमें यह सब समानता के साथ समोये जा सकें जिसमें इन सबके लिये एक ही स्वभाव और एक ही गुण रखने वाले उचित नियम मौजूद हों और जिसका अनुसरण करके मनुष्य और मनुष्यों का हर समूह और सर्वस्वरूप से सारी मनुष्यता अपने उच्चतर लक्ष्य तक पहुंच सके। वह अज्ञानता का अन्धकारमय युग था, जब जीवन को स्थाई रूप से विभिन्न विभागों में विभाजित करना सम्भव समझा जाता था। अब यदि कुछ लोग इस विचार-शैली के व्यर्थ वार्तालाप करने वाले मौजूद हैं तो वह बेचारे या तो सत्यता के साथ पुराने विचारों के वातावरण में अब तक सांस ले रहे हैं इसलिये दया के पात्र हैं या फिर वह अत्याचारी सत्यता को भलीभाँति जानते हैं किन्तु जान-बूझकर ऐसी बात केवल इसलिये करते हैं कि जिस "धर्म" को वह किसी मानव-समाज में फैलाना चाहते हैं उसके नियमों से विरोध रखने वालों को उन्हें यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता है कि हमारे इस धर्म के अन्तर्गत तुम्हें जीवन के अमुक-अमुक विभागों में जो दुर्भाग्य से तुमको अत्यन्त प्रिय हैं, पूर्ण सुरक्षा प्राप्त रहेगी, हालां कि यह सुरक्षा ज्ञान की दृष्टि से सम्भव हान प्राकृतिक दृष्टि से निषिद्ध और कार्यतः असम्भव है। और इस प्रकार अन्याय करने वाले संभवतः स्वयं भी जानते हैं कि यह असम्भव है। हर प्रभुत्व-प्राप्त धर्म-जीवन के समस्त विभागों को अपनी आत्मा और अपने स्वभाव के अनुसार ढाल कर ही रहता है जिस प्रकार हर नमक की खान उन समस्त वस्तुओं को नमक में बदल करके ही रहती है जो उसकी सीमा में प्रविष्ट हो जायें।

जीवन का भौगोलिक व बांशिक विभाजनः—

फिर जिस प्रकार यह बात व्यर्थ है कि मानव-जीवन को भिन्न-भिन्न विभागों विभाजित किया जाये उसी बल्कि उससे भी अधिक

व्यर्थ बात यह है कि उसे भौगोलिक क्षेत्रों या वांशिक मंडलों में विभाजित किया जाये। मनुष्य निःसन्देह पृथ्वी के बहुत से भागों में पाया जाता है जिनको नदियों ने, पहाड़ों ने, बनों और सागरों ने या कृत्रिम सीमाओं ने बिभक्त कर रक्खा है और मनुष्य की बहुत सी भिन्न-भिन्न नस्लें और जातियां भी अवश्य पाई जाती हैं, जिनके बीच ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक और दूसरे कारणों से मनुष्यता के विकास और उन्नति ने विभिन्न रूप ग्रहण किये हैं, किन्तु इस विभिन्नता को दलील ठहरा कर जो व्यक्ति यह कहता है कि हर जाति, हर राष्ट्र और हर भौगोलिक क्षेत्र के लिये 'धर्म' अर्थात् जीवन व्यवस्था अलग होनी चाहिये वह सरासर एक व्यर्थ बात कहता है। उसकी सीमित दृष्टि बाह्य दृश्यों और बाह्य अवस्थाओं की विभिन्नताओं में उलझ कर रह गई, इस बाह्य बाहुल्य के बीच मानव-यथार्थता की एकता को वह नहीं पा सका। यदि वास्तव में यह विभिन्नताऐं इतनी महत्त्व रखती हैं कि उनके आधार पर धम अलग-अलग होने चाहिये तो मैं कहूँगा कि अधिक से अधिक जो विभिन्नताऐं एक देश और दूसरे देश, एक बंश और दूसरे बश के बीच आप पाते हैं इन सबको जितना बढ़ा चढ़ाकर चाहें लिख लें और फिर उन विभिन्नताओं का शुद्ध ज्ञानात्मक विवेचन करें जो स्त्री और पुरुष में पाई जाती हैं जो हर मनुष्य और दूसरे मनुष्य में पाई जाती हैं, जो एक ही माता और पिता के दो बालकों में पाई जाती हैं तो कदाचित यह अति उक्ति न होगी यदि मैं यह दावा करूँ कि ज्ञानात्मक समाधान और विभाजन प्रथम प्रकार की विभिन्नताओं से यह दूसरी प्रकार की विभिन्नताएँ हर अवस्था में प्रबल ही निकलेंगी, फिर क्यों न कह दीजिये कि हर व्यक्ति की जीवन व्यवस्था अलग होनी चाहिये। किन्तु जब आप व्यक्तिगत, जातीय और पारिवारिक बाहुल्य के बीच एकता का एक तत्व और स्थाई तत्व ऐसा पाते हैं जिसके आधार पर राष्ट्र मातृभूमि या वंश की धारणा स्थापित

हो सकती है और इस धारणा के आधार पर एक राष्ट्र या एक देश की बहुसंख्यक आबादी के लिये एक जीवन व्यवस्था होना सम्भव समझा जाता है तो आख़िर किस वस्तु ने आप को रोक दिया है कि राष्ट्रीय, जातीय, मातृभूमि वाहुल्य के बीच एक और बड़ी आधारात्मक एकता का तत्व आप नहीं पा सकते, जिस पर मानवता की धारणा स्थित हो और जिसके आधार पर समस्त मानव-संसार का एक धर्म या जीवन व्यवस्था होना असम्भव समझा जाये ? क्या यह सत्य नहीं है कि समस्त भौगोलिक, वांशिक और राष्ट्रीय विभिन्नताओं के होते हुए भी प्रकृतिक नियम समान है, जिनके अन्तर्गत मनुष्य संसार में जीवन व्यतीत कर रहा है। वह शारीरक व्यवस्था समान है जिसके अनुसार मनुष्य की रचना की गई हैं, वह गुण समान हैं जिनके आधार पर मनुष्य दूसरी प्राणियों से अलग एक स्थाई जाति ठहरता है, वह प्राकृतिक माँगें और आवश्यकतायें समान हैं जो मनुष्य के भीतर समर्पित की गई हैं, वह शक्तियां समान हैं जिन के समूह को हम मानव-आत्मा कहते हैं और आधारात्मक रूप से वह समस्त प्राकृतिक, मनौवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक जाविका सम्बन्धी काय भी समान हैं जो मानव जीवन में कायशील हैं ? यदि यह सत्य है—और कौन कह सकता है कि यह सत्य नहीं है तो जो सिद्धान्त मनुष्य के कल्याण के लिये ठीक हों उनको विश्वव्यापी होना चाहिये, उनके जातीय या वांशिक या स्वदेशिक होने का कोई कारण नहीं। राष्ट्र और जातियां इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत अपनी विशेषताओं का प्रदर्शन और आंशिक रूप से अपने जीवन-सम्बन्धी व्यवहारों का प्रबन्ध विभिन्न रीतियों से कर सकती हैं और उनको ऐसा करना चाहिये। किन्तु मनुष्य को मनुष्य होने की दृष्टि से जिस वास्तविक धर्म या जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता है वह हर स्थिति में एक ही होनी चाहिये। बुद्धि यह स्वीकार करने से इन्कार करती है कि जो वस्तु एक

राष्ट्र के लिये सत्य हो वह दूसरे राष्ट्र के लिये असत्य हो जाये और जो एक राष्ट्र के लिये असत्य हो वह दूसरे के लिये सत्य हो जाये !

जीवन का सामयिक विभाजन :-

इन निरर्थकताओं और आधुनिक काल के ज्ञानात्मक निरर्थकताओं में से एक और बात जो वास्तविकता की दृष्टि से अत्यधिक निरर्थक है किन्तु आश्चर्य है कि विश्वास की पूरी शक्ति के साथ उपस्थित की जाती है, मानव जीवन का सामयिक विभाजन हैं। अर्थात् कहा जाता है कि जो जीवन-व्यवस्था एक युग में सत्य होती है वह दूसरे युग में असत्य हो जाती है क्योंकि जीवन की समस्यायें और प्रसंग हर काल में बदल जाते हैं और जीवन-व्यवस्था का सत्य या असत्य होना सरासर उन समस्याओं और प्रसङ्गों ही की स्थिति पर निर्भर है ! यह बात उसी मानव-जीवन के सम्बन्ध में कही जाती है जिसके बारे में साथ ही साथ विकास की वार्ता भी की जाती है। जिसके इतिहास में कार्यशील नियम भी ढूँढे जाते हैं, जिसके पिछले अनुभावों से वर्तमान के लिये शिक्षा और भविष्य के लिये आशायें भी प्राप्त की जाती हैं और जिसके लिये "मानव प्रकृति" नाम की एक वस्तु भी प्रमाणित की जाती हैं। मैं पूछता हूं क्या आपके पास कोई ऐसा मापक-यंत्र है जिससे आप मानव-जाति की इस निरन्तर ऐतिहासिक प्रगति के बीच काल या युग या समय की वास्तविक सीमाबन्दियाँ कर सकते हों ? और क्या यह सम्भव है कि इन सीमाबन्दियों में से किसी एक रेखा पर उँगली रख कर आप कह सकते हों कि इस रेखा के उस पार जो जीवन समस्यायें थीं वह इस पार आकर बिलकुल बदल गईं, और जो परिस्थितियाँ उस पार थीं वह इस पार बाकी नहीं रहीं ? यदि वास्तव में मानव-इतिहास ऐसे ही अलग-अलग सामयिक भागों में विभाजित है तब तो यूं समझना चाहिये कि एक भाग जो समाप्त हो चुका है वह बाद वाले भागों के लिये केवल एक निरर्थक और व्यर्थ वस्तु हो गया। उसके

समाप्त होते ही वह सब कुछ नष्ट हो गया जो मनुष्य ने काल के उस भाग में किया था। उस काल में मनुष्य को जो अनुभव प्राप्त हुए वह बाद वाले काल के लिये अपने अन्दर कोई शिक्षा नहीं रखते, क्योंकि वह परिस्थितियाँ और वह समस्याएँ ही नष्ट हो गईं जिन में मनुष्य ने कुछ प्रणालियां या कुछ नियमों का कुछ मूल्यों के लिये प्रयास और चेष्टा का प्रयोग किया था फिर यह विकास की वार्ता क्यों? यह जीवन नियम का अन्वेषण किस लिये? यह ऐतिहासिक निष्कर्ष किस आधार पर? जब आप विकास का नाम लेते हैं तो अनिवार्यतः यह इस बात का प्रमाण हैं कि वहाँ अवश्य कोई वस्तु है जो समस्त परिवर्तनों का विषय बनती है और उन परिवर्तनों के भीतर अपने आपको स्थिर रखते हुए निरन्तर गतिशील है। जब आप जीवन-नियम पर विवाद करते हैं तो यह बात अवांछनीय है कि इन अस्थिर परिस्थितियों में इन चलते-फिरते दृश्यों में, इन बनने और बिगड़ने वाली सूरतों में, कोई स्थाई और जीवित तथ्य भी है जो अपनी एक विशेष प्रकृति और अपने कुछ स्थाई नियम रखती है। जब आप इतिहास से निष्कर्ष प्राप्त करते हैं तो इसका अर्थ यह है कि इतिहास के इस सुदीर्घ मार्ग पर जो यात्री विभिन्न स्थानों से गुजरता हुआ आ रहा है और मंज़िलों पर मंज़िलें तै करता हुआ चला जा रहा है, वह स्वयं अपना कोई व्यक्तित्व और अपना कोई स्थाई स्वभाव रखता है, जिसके सम्बन्ध में यह आज्ञा लागू की जा सकती है कि वह विशेष परिस्थितियों में विशेष रूप से कार्य करता है। वह एक समय में कुछ वस्तुओं को स्वीकार करता है और दूसरे समय में उन्हें अस्वीकार कर देता है और कुछ दूसरी वस्तुओं की माँग करता है। यह जीवित सत्य, यह स्थाई विषय परिवर्तन, यह इतिहास के राज-पथ का स्थाई पथिक वही तो है जिसे आप सम्भवतः भावना कहते हैं। किन्तु क्या बात है जब आप रास्ता की मंज़िलों और उनमें पेश आने वाली परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं

पर वार्तालाप आरम्भ करते हैं तो इस वार्तालाप में ऐसे खो जाते हैं कि स्वयं यात्री आपको याद नहीं रहता ? क्या यह सच है कि मंज़िलें और उनकी परिस्थितियाँ और उनकी समस्यायें बदल जाने से यात्री और उसकी वास्तविकता भी बदल जाती है ? हम तो यह देखते हैं कि आदि सृष्टि से आज तक उसकी बनावट बिलकुल नहीं बदली, उसके विधि तत्व वही हैं जो अब से हज़ारों वर्ष पहले थे, उसका स्वभाव वही है, उसकी प्रकृति की माँगें वही हैं, उसके गुण और उसकी विशेषतायें वही हैं, उसकी रुचियाँ और उसकी इच्छायें वही हैं, उसकी शक्तियाँ और उसकी योग्यताएँ वही हैं, उसकी दुर्बलतायें और अयोग्यताएँ वही हैं, उसके कार्य करने और कार्य प्रभाव स्वीकार करने और प्रभावित होने के नियम वही हैं, उस पर शासन करने वाली शक्तियां वही हैं, और उसका विश्व वातावरण भी वही है। उनमें से किसी वस्तु में भी आदि सृष्टि से आज तक कण मात्र भी अन्तर नहीं आया है। कोई व्यक्ति यह दावा करने का साहस नहीं कर सकता कि इतिहास के बीच में परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न होने वाली जीवन-समस्याओं के परिवर्तन से स्वयं मानवता भी परिवर्तित होती आई है या वह बुनियादी वस्तुएं भी परिवर्तित होती रही हैं जो मानवता से सम्बन्ध रखती हैं। फिर जब वास्तविकता यह है तो इस दावे में क्या वज़न हो सकता है कि मनुष्य के लिये जो वस्तु कल अमृत थी वह आज विष है, जो वस्तु कल सत्य थी वह आज असत्य है, जो वस्तु कल मूल्य रखती थी वह आज मूल्यहीन है।

मनुष्य को कैसी जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता है ?:-

सच तो यह है कि व्यक्तियों और समूहों ने इतिहास के बीच में मानव आत्मा को और उससे सम्बन्ध रखने वाली बुनियादी वस्तुओं के समझने में धोका खाकर और कुछ वास्तविकताओं के स्वीकार करने में

सीमा से बढ़ कर और कुछ के समझने में भूल करके जो दोषपूर्ण जीवन-विधान समय-समय पर ग्रहण किये, और जिन्हें महान् मानवता ने अनुभव के बाद दोषपूर्ण पाकर दूसरी ऐसी ही व्यवस्थाओं के लिये स्थान खाली करने पर विवश कर दिया, उनके इतिहास के समीक्षण से यह परिणाम निकाल लिया गया है कि मनुष्यता के लिये अनिवार्यतः हर काल में एक जीवन-व्यवस्था आवश्यक है, जो केवल उसी की परिस्थितियों और समस्याओं से उत्पन्न हो और उन्हीं का समाधान करने की चेष्टा करे। हालाँ कि अधिक सत्यता के साथ इस इतिहास से यदि कोई परिणाम निकाला जा सकता है तो वह यह है कि इस प्रकार की तात्यकालिक व सामयिक जीवन-व्यवस्थाएँ, या दूसरे शब्दों में पृथ्वी के कीड़े-मकोड़ों को बार-बार आज़माने और हर एक की असफलता के बाद उसके उत्तराधिकारियों का प्रयोग करने में महान मानवता का समय नष्ट होता है, उसकी राह मारी जाती है। उसके विकास और उन्नति और अपने सम्पूर्ण ध्येय की ओर उसकी यात्रा में अत्यंत कठिनाई उपस्थित होती हैं। वास्तव में उनकी आवश्यकता है और अति आवश्यकता है ऐसी जीवन-व्यवस्था की जो स्वय उसकी और उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्त वास्तविकताओं को जानकर, विश्वव्यापी, स्थाई और सुदृढ़ नियमो पर स्थापित की जाये, जिसे लेकर वह वर्तमान और भविष्य की समस्त परिवर्तित परिस्थितियों से भलीभाँति पार हो सके, उनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं को हल कर सके, जीवन के मार्ग पर गिरते-पड़ते नहीं बल्कि दौड़ते और भागते अपने लक्ष्य स्थान की ओर बढ़ सके।

क्या मनुष्य ऐसी व्यवस्था स्वयं बना सकता है ?:—

यह है उस الدين (धर्मविशेष या जीवन-प्रणाली या जीवन-व्यवस्था का तथ्य, जिसकी मनुष्यको आवश्यकता है। अब हमें देखना चाहिये

कि यदि मनुष्य ईश्वर की सहायता से बेपरवाह होकर स्वयं अपने लिये इस प्रकार का एक धर्म बनाना चाहे तो क्या वह इस प्रयास में सफल हो सकता है ? यह प्रश्न आपके सामने उपस्थित न करूंगा कि मनुष्य अब तक ऐसा धर्म स्वयं बनाने में सफल हुआ है ? क्योंकि इसका उत्तर तो सर्वथा नहीं में है। स्वयं वह लोग भी जो आज बड़े-बड़े महान दावों के साथ अपने-अपने धर्म उपस्थित कर रहे है और उनके लिये एक दूसरे से लड़े मर रहे हैं, यह दावा नहीं कर सकते कि उनमें से किसी का उपस्थित किया हुआ धर्म उन आवश्यकताओं को पूरा करता है जिनके लिये मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से एक "अल-दीन" (मुख्य-धर्म) की आवश्यकता है। किसी का धर्म जातीय है किसी का भौगोलिक, किसी का वार्गिक और किसी का दीन उत्पन्न हो उस कालके तक़ाज़ों से हुआ है जो अभी कल ही गुज़रा है। वह काल जो कल आने वाला है उसकी परिस्थितियों और समस्याओं के सम्बन्ध में पेशगो कुछ नहीं कहा जा सकता कि इनमें भी वह काम दे सकेगा या नहीं? क्योंकि जो काल अब बीत रहा है अभी तो उसकी ऐतिहासिक आवश्यकताओं का समीक्षण बाक़ी है, इसी लिये मैं प्रश्न यह नहीं कर रहा हूँ कि मनुष्य ऐसा धर्म बनाने में सफल हुआ है या नहीं, बल्कि यह कर रहा हूं कि सफल हो भी सकता है या नहीं ?

यह एक अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में सरसरी तौर पर विवाद करना उचित नहीं, यह मानव-जीवन के निर्णायक प्रश्नों में से एक है इस लिये पहले भलीभाँति समझ लीजिये कि वह वस्तु क्या है जिसके निर्माण करने का प्रश्न उपस्थित है और उस व्यक्ति की योग्यतायें क्या हैं जिसके सम्बन्ध में यह पूछा जा रहा है कि वह इसका निर्माण कर सकता है या नहीं ?

धर्म विशेष के उद्देश्य :—

मनुष्य के लिये जिस धर्म-विशेष (अल-दीन) की आवश्यकता मैंने अभी सिद्ध की है उसका अर्थ कोई ऐसा विस्तृत विधान नहीं है जिसमें हर काल और हर प्रकार की परिस्थितियों के लिये समस्त छोटे-बड़े भाग तक संवादित हों और जिसकी उपस्थिति में मनुष्य का काम केवल उसके अनुसार कार्य करना हो, बल्कि वास्तव में उसका अभिप्राय ऐसे व्यापक सिद्धान्तों से है जो सृष्टि के आदि से अन्त तक, समस्त परिस्थितियों में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन कर सकें। उसके विचार दृष्टिकोण प्रयत्न तथा प्रयास और आगे बढ़ने के लिये ठीक दिशा निश्चित कर सकें और उसे अशुद्ध प्रयोगों में समय, परिश्रम और शक्ति नष्ट करने से बचा सकें। इस उद्देश्य के लिये मनुष्य की सब से प्रथम आवश्यकता यह है कि उसे इस बात का ज्ञान, अनुमान और अटकल नहीं, बल्कि ज्ञान हो कि उसकी और सृष्टि की यथार्थता क्या है ? और सृष्टि में उसकी स्थिति क्या है ? फिर उसे इस बात के समझ बैठने की नहीं बल्कि जानने की आवश्यकता है कि क्या जीवन बस यही संसारिक जीवन है या यह सम्पूर्ण जीवन का एक आरंभिक भाग है ? क्या यात्रा बस जन्म से लेकर मृत्यु तक के बीच तक की है या यह पूरी यात्रा में से केवल एक स्थान है ? फिर उसके लिये अनिवार्य है कि एक ऐसा जीवन-ध्येय उसके लिये निश्चित हो जो वास्तविकता की दृष्टि से, न कि केवल इच्छा के आधार पर, वास्तव में मानव जीवन का ध्येय हो, जिसके लिये वास्तव में मनुष्य पैदा किया गया हो और जिसके साथ हर व्यक्ति, व्यक्तियों का हर समूह और पूर्ण रूप से समस्त मानवता के ध्येय, समस्त कालों में बिना किसी संघर्ष और टकराव के समान हो सकें। फिर उसको नैतिकता के ऐसे सुदृढ़ और सर्वव्यापी सिद्धांतों की आवश्यकता है जो उसकी प्रकृति की समस्त विशेषताओं के साथ

समता भी रखते हों और समस्त सम्भव परिस्थितियों पर बौद्धिक और व्यावहारिक रूप से ठीक उत्तर देसकते हों, ताकि वह उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अपने चरित्र का निर्माण कर सके। इन्हीं के पथ-प्रदर्शन में जीवन-यात्रा के स्थान और उसकी हर परिस्थिति में उपस्थित समस्याओं का समाधान कर सके और इस आशंका में न पड़े कि परिवर्तनशील परिस्थितियों और समस्याओं के साथ-साथ नैतिकता के सिद्धान्त बनाता और बदलता चला जाये। अर्थात् दूसरे शब्दों में एक सिद्धांतरहित अवसरवादी (Characterless opportunist) बन कर रह गया। फिर उसको संस्कृति के ऐसे विस्तृत और सम्पूर्ण सिद्धान्तों की आवश्यकता है जो मानव-समाज की वास्तविकता और ध्येय और उसकी प्राकृतिक मांगों को समझ कर बनाये जायें, जिनमें न्यूनता, अधिकता और असमता न हो, जिनमें समस्त मनुष्यों के सामूहिक लाभ पर दृष्टि रक्खी गई हो। और जिनका अनुसरण करके हर काल में मानव जीवन के हर पहलू के निर्माण, रचना और उन्नति का प्रयत्न किया जा सकें, फिर उसे व्यक्तिगत चरित्र, सामाजिक नीति और व्यक्तिगत और समाजिक प्रयत्न और कर्म को ठीक यात्रा-दिशा का यात्री और पथ-भ्रष्टता से सुरक्षित रखने के लिये ऐसी पूर्ण सीमाओं की आवश्यकता है जो जीवन के राजमार्ग पर पथ-चिन्ह का काम दें, और हर मोड़, हर दो राहे और हर आशंकापूर्ण स्थान पर उसे सचेत कर दें कि तेरा रास्ता उधर नहीं बल्कि इधर है। फिर उसको कुछ ऐसे सक्रीय सैक्रिय नियमों की आवश्यकता है जो अपने तथ्य की दृष्टि से स्थाई और सर्वमानव-जाति के लिये अनुसरणीय हों और मानव-जीवन को उस वास्तविक उद्देश्य, उस जीवन परिणाम, उस जीवन ध्येय, उन नैतिक और सांस्कृतिक सिद्धान्तों और उन कार्य सीमाओं से सदैव सम्बन्धित रक्खें जिनका निश्चय उस "अल-दीन" में किया गया हो।

यह है वह वस्तु जिसकी रचना का प्रश्न उपस्थित है। अब विचार

कीजिये क्या मनुष्य ऐसे साधन रखता है जिनसे वह स्वयं अपने लिये एक "अल-दीन" निर्माण कर सके।

मानवी साधन की समीक्षा :-

मनुष्य के पास अपना "दीन" (धर्म) या जीवन-प्रणाली प्राप्त करने के साधन चार से अधिक नहीं हैं। पहला साधन इच्छा है दूसरा साधन बुद्धि है, तीसरा साधन निरीक्षण और अनुभव है चौथा साधन पिछले अनुभवों का ऐतिहासिक रेकार्ड है। सम्भवत: इनके अतिरिक्त किसी पांचवे साधन का पता नही बताया जा सकता। इन चारों साधनों का जितना पूर्ण विवेचन कर के आप देख सकते हों देखिये कि क्या यह मुख्य धर्म (الدين) के निर्माण करने में मनुष्य की सहायता कर सकते है? मैंने अपनी आयु का एक मुख्य भाग इस प्रश्न के अन्वेषण में व्यय किया है और अन्तत: इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि यह साधन "मुख्य-धर्म" के निर्माण में तो सहायता नहीं कर सकते, हां, मानव-प्राणी के अतिरिक्त यदि कोई अमानवी पथ-प्रदर्शक मुख्य धर्म को उपस्थित कर दे तो उसे समझने, परखने, पहचानने और उसके अनुसार जीवन की विस्तृत व्यवस्था का समय-समय पर निर्माण करते रहने में अवश्य सहायक बन सकते हैं।

इच्छा :—

पहले इच्छा को लीजिये, क्या यह मनुष्य की पथ-प्रदर्शक बन सकती है? यद्यपि यह मनुष्य के भीतर कर्म की वास्तविक प्रेरक है किन्तु इसकी मुख्य प्रकृति में जो दुर्बलतायें मौजूद हैं उनके कारण वह पथ-प्रदर्शन के योग्य कभी नहीं हो सकती! अकेले पथ-प्रदर्शन करना तो दूर रहा बुद्धि और ज्ञान को भी अकसर उसने पथ-भ्रष्ट किया है। उसको शिक्षा-दीक्षा से चाहे कितना ही दिव्य विचार बना दिया जाये, हर

अवस्था में अन्तिम निर्णय जब कभी उस पर छोड़ा जायेगा वह अवश्य ९९ प्रतिशत परिस्थितियों में न्याय रहित ही निर्णय करेगी, क्योंकि उसके भीतर जो मांगें पायी जाती हैं वह उसको शुद्ध निर्णय करने के स्थान पर ऐसा निर्णय करने पर विवश करती हैं जिनसे मांग किसी न किसी प्रकार शीघ्र और सरलता से प्राप्त हो जाये। यह वस्तु "मानव-इच्छा" की स्वभाविक दुर्बलता है, अतः चाहे एक व्यक्ति की इच्छा हो या एक वर्ग की हों या वह सर्वाजनिक-इच्छा (Generalwill) हो जिसका रोसो ने वर्णन किया है सारांश किसी प्रकार को मानव इच्छा में भी प्राकृतिक रूप से यह योग्यता नहीं है कि एक मुख्य-धर्म के निर्माण करने में सहायक बन सके। बल्कि जहां तक मुख्य समस्याओं—उदाहरणतः मानव जीवन की वास्तविकता उसके परिणाम और उसके उद्देश्य का सम्बन्ध है उनको हल करने में तो वह किसी प्रकार सहायक बन ही नहीं सकती।

बुद्धि :-

फिर बुद्धि को लीजिये, उसकी समस्त उत्तम योग्यतायें सिद्ध, मानव जीवन में उसकी महानता भी स्वीकार और यह भी स्वीकार कि मनुष्य के भीतर यह बहुत-बड़ी पथ-प्रदर्शक शक्ति है। इस प्रश्न को जाने दीजिये कि मनुष्य के लिये "मुख्य-धर्म" किसकी बुद्धि निर्माण करेगी ? आपकी ? हमारी ? समस्त मनुष्यों की ? या मनुष्य के किसी विशेष समूह की ? इस युग के लोगों की ? या किसी पिछले युग वालों की ? या आगे आने वालो की ? प्रश्न केवल यह है कि मानव-बुद्धि' की सीमाओं का विवेचन करने के बाद क्या आप कह सकते हैं कि 'मुख्य-धर्म' के निर्माण करने में उस पर विश्वास किया जा सकता है ? इसके सारे निश्चय अवलम्बित हैं उस सामग्री पर जो इन्द्रियां उसको संग्रह करके दें। वह अशुद्ध सामग्री एकत्रित करके देंगी

तो यह अशुद्ध निर्णय कर देगी, वह अपूर्ण-सामग्री एकत्रित कर देंगी तो यह अपूर्ण निर्णय कर देगी। और जिन विषयों में वह कोई सामग्री प्रस्तुत न करेंगी उनके प्रति यदि यह आत्म-परिचित है तो कोई निर्णय न करेगी, और यदि वह आत्मज्ञान भ्रष्ट है तो अन्धकार में चौमुखी तीर चलाती रहेगी। यह सीमितायें जिस बुद्धि बेचारी के साथ लगी हुई हैं वह आखिर किस इस योग्य हो सकती है कि समस्त मनुष्यों के लिये 'धर्म-विशेष के निर्माण का कष्ट उसे दिया जाये? "धर्म-विशेष" बनाने का दायित्व जिन महान समस्याओं के समाधान पर है उनमें इन्द्रियां सिरे से कोई सामग्री प्रस्तुत ही नहीं करतीं। फिर क्या उन समस्याओं का निर्णय कल्पनाओं, निरर्थक अनुमानों और कोरी भ्रान्तियों से किया जायेगा? 'धर्म-विशेष' बनाने के लिये जिन स्थाई नैतिक मूल्यों का निश्चय अनिवार्य है उनके लिये इन्द्रियां बहुत ही अपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। फिर क्या बुद्धि से यह आशा की जा सकती है कि वह अपूर्ण सामग्री पर शुद्ध और पूर्ण मूल्य निश्चित करेगी? इसी प्रकार धर्म-विशेष के जो दूसरे विधि-तत्व मैंने बयान किये हैं उनमें से किसी एक तत्व के लिये भी इन्द्रियों से सर्वथा शुद्ध और पूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती; जिसके आधार पर बुद्धि एक सम्पूर्ण व्यवस्था बना सके। और इस पर अधिक यह कि बुद्धि के साथ इच्छा का अंश स्थाई रूप से सम्मिलित हुआ हैजो उसे ठेठ बौद्धिक निर्णय देने से रोकता है। और उसकी सत्य-वादिता को कुछ न कुछ टेढ़ की ओर आकर्षित ही करके छोड़ता है। अतः यदि यह मान भी लिया जाये कि मानव बुद्धि इन्द्रियों की एकत्रित की हुई सामग्री के सम्पादन और उससे तर्क प्राप्त करने में कोई भूल न करेगी तब भी अपनी दुर्बलताओं के कारण वह इतना बलबूता नहीं रखती कि इतने बड़े कार्य का बोझ उसपर डाला जा सके। यह बोझ उसपर डालना उसपर भी अन्याय है और स्वयं अपने ऊपर भी।

ज्ञान विज्ञानः-

अब तीसरे साधन को लीजिये-अर्थात् वह ज्ञान जो निरीक्षण और अनुभव से प्राप्त होता है, मैं इस ज्ञान के मूल्य को स्वीकार करने में किसी विद्यार्थी से पीछे नहीं हूँ और न लेशमात्र उसका अनादर करना पसन्द करता हूँ किंतु उसकी सिमीताओं की अपेक्षा करके उसे वह विस्तृत रूप देना जो वास्तव में उसे प्राप्त नहीं है मेरे निकट अज्ञानता है। "मानव-ज्ञान" की यथार्थता पर जिस व्यक्ति की भी दृष्टि होगा वह इस बात को मानने से इन्कार न करेगा कि जहां तक महान समस्याओं का सम्बंध है उनकी तह तक उसकी पहुंच असम्भव है। क्योंकि मनुष्य को वह साधन प्राप्त ही नहीं है जिनसे वह उस तक पहुंच सके। न वह उसको सीधे-सीध देख सकता है और न निरीक्षण और अनुभव के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं से तर्क प्राप्त करके उसके सम्बंध में ऐसा मत स्थिर कर सकता है जो ज्ञान का आधार बन सकता हो। अतः "धर्म-विशेष" निर्माण करने के लिये जिन समस्याओं का हल मालूम करना सबसे पहली अवांछनीय आवश्यकता है वह तो ज्ञान की पहुंच से बाहर ही है। अब रहा यह प्रश्न कि नैतिक मूल्य, सांसकृतिक नियम और पथ-भ्रष्टता से बचानेवाली सीमा निर्धारित करने का कार्य क्या ज्ञान के हवाले किया जा सकता है या नहीं ? तो इस विवाद को छोड़ते हुये कि यह कार्य किस व्यक्ति या किस समूह या किस काल का ज्ञान सम्पूर्ण करेगा- हमें यह देखना चाहिये कि ज्ञानात्मक रीति से यह कार्य संपादित करने के लिये अनिवार्य शर्तें क्या हैं ? इसके लिये पहली शर्त यह है कि इन समस्त प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त हो जिनके अन्तर्गत मनुष्य इस संसार में जी रहा है। इसके लिये दूसरी शर्त यह है कि स्वयं मनुष्य क अपने जीवन से जो ज्ञान सम्बन्ध रखते हैं वह पूर्ण हों, उसके लिये तीसरी शर्त यह

है कि इन दोनों प्रकार के ज्ञान अर्थात् सृष्टि ज्ञान और मानव ज्ञान की जानकारियां एकत्रित हो, और कोई पूर्ण-बुद्धि उनको शुद्ध रूप से सम्पादित करके उनसे शुद्धतर्क प्राप्त करके मनुष्य के लिये नैतिक मूल्यों, सांस्कृतिक नियमों और पथ-भ्रष्टता से बचानेवाली सीमाओं को निर्धारित करे। यह शर्तें न इस समय तक पूरी हुई हैं न आशा की जा सकती है कि पांच हज़ार वर्ष बाद पूरी हो जायेंगी-सम्भव है कि मानवता की मृत्यु से एक दिन पहले यह पूरी हो जायें किन्तु उस समय उनका लाभ ही क्या होगा ?

इतिहासः—

अन्त में उस ज्ञान साधन को लीजिये जिसे हम पिछले मानव-अनुभवों का ऐतिहासिक रेकार्ड या मानवता का कर्म-पत्र कहते हैं। उसके महत्व और उसके लाभों से मुझे इन्कार नहीं है किन्तु मैं कहता हूँ और विचार करेंगे ता आप भी मान लेंगे कि "धर्म-विशेष" निर्माण करने का महान् कार्य पूरा करने के लिये यह भी अपूर्ण है! मैं यह प्रश्न नहीं करता कि यह रेकार्ड भूत से वर्तमान के लोगों तक शुद्धता और पूर्णता के साथ पहुंचा भी है या नहीं ? में यह भी नहीं पूछता कि इस रेकार्ड की सहायता मे 'धर्म' निर्माण करने के लिये मानवता का प्रतिनिधि किस मस्तिष्क को बनाया जायेगा ? होगल के मस्तिष्क का ? मार्कस क मस्तिष्क को ? अर्नेस्ट हीगल के मस्तिष्क को ? या किसी और मस्तिष्क को ? मैं केवल यह पूछना चाहता हूँ कि भूत, वर्तमान, या भविष्य में किस इतिहास तक का रेकार्ड एक "धर्म-विशेष" निर्माण करने के लिये पूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा ? उस इतिहास क पश्चात् उत्पन्न होने वाले स्वभाग्यवान हैं, बाक़ी बचे उससे पहले गुजर जाने वाले तो उनका बस ईश्वर ही रक्षक है।

नैराश्यपूर्ण परिणामः--

यह संक्षिप्त संकेत जो मैंने किये हैं मुझे आशा है कि मैंने उनमें कोई वैज्ञानिक या तार्किक भूल नहीं की है। और यदि मनुष्य के साधनों का यह समीक्षण जो मैंने किया है ठीक है तो फिर हमें कोई वस्तु इस विश्वास तक पहुंचने से रोक नहीं सकती कि मनुष्य अपने लिये कोई कच्चा-पक्का, गलत-सलत, सामयिक और स्थानीय "धर्म" तो निर्माण कर सकता है किन्तु वह चाहे कि धर्म-विशेष' (अल-दीन) का निर्माण कर सके तो यह नितांत असम्भव है, पहले भी असम्भव था आज भी असभव है और भविष्य के लिये भी इसकी सम्भावना से पूर्ण निराशा है, अब यदि पथ-प्रदर्शन के लिये किसी ईश्वर का अस्तित्व नहीं है जैसा नास्तिकों का मत है तो मनुष्य के लिये उचित यह है कि आत्महत्या करले। जिस यात्री के लिये न कोई पथ-प्रदर्शन हो और न जिसके पास अपने मार्ग मालूम करने के साधन हों, उसके लिये निराशा और घोर निराशा के अतिरिक्त कुछ भाग्य में नहीं। उससे कोई सहानुभूति रखने वाला इसके सिवा उसे और क्या परामर्श दे सकता है कि मार्ग में पड़े हुये किसी पत्थर से सिर टकरा कर अपनी मुश्किल आसान करले। और यदि ईश्वर है किन्तु पथ-प्रदर्शन करने वाला ईश्वर नहीं है जैसा कि कतिपय दार्शनिक और वैज्ञानिक ढंग के ईश्वरवादियों का विचार है तो यह और भी अधिक दुःखजनक परिस्थिति है। जिस ईश्वर ने सर्व सृष्टि के अस्तित्व, विकास और उन्नति के लिये हर उस वस्तु के एकत्रित करने का प्रबन्ध किया है जिसकी आवश्यकता कल्पना की जा सकती हो किन्तु एक नहीं किया तो केवल मनुष्य को उस सबसे बड़ी आवश्यकता का प्रबन्ध जिसके बिना पूरी मानव-जाति का जीवन अशुद्ध हुआ जाता है, सके बनाये हुये संसार में रहना एक विपत्ति

है, ऐसी कठिन विपत्ति जिससे बढ़कर किसी दूसरी विपत्ति की कल्पना सम्भव नहीं, आप निर्धनों और दीनों, बीमारों और आहतों, अत्याचार पीड़ितों और दुखी जनताओं का विपत्ति पर क्या रोते हैं? रोइये उस पूरी मानव जाति की विपत्ति पर जो इस असहाय स्थिति में छोड़ दी गई है कि बार-बार गलत अनुभव करके असफल होती है ठोकरें खाकर गिरती है और फिर उठकर चलती है ताकि फिर ठोकर खाये, हर ठोकर पर देश के देश और राष्ट्र के राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं। उस बेचारी को अपने जीवन-ध्येय तक का पता नहीं है, कुछ नही जानती कि किस उद्देश्य के लिये प्रयास और कर्म करे और किस ढंग पर करे, यह सब कुछ वह ईश्वर देख रहा है जिसने उसे धरती पर जन्म दिया है किन्तु बस वह उसे उत्पन्न करने से सम्बन्ध रखता है पथ-दर्शन की परवाह नहीं करता।

आशा की एकही किरण—इस चित्र के बिल्कुल विपरीत कुर्आन हमारे सामने परिस्थिति का एक दूसरा चित्र उपस्थित करता है। वह कहता है कि ईश्वर केवल उत्पन्न ही कर देने वाला नहीं है बल्कि पथ प्रदर्शन करने वाला भी है। उसने सृष्टि में से हर वस्तु को वह ज्ञान-पथ प्रदान किया है जो उसकी प्रकृति के अनुसार उसके लिये आवश्यक है।

'अल्लज़ी आता कुल्ल शैइन ख़लक़हू सुम्म हदा" अर्थात्—'ईश्वर' वही है जिसने हर वस्तु को उसका अस्तित्व प्रदान किया और फिर उसे मार्ग दिखाया) (.कुर्आन शरीफ)

यदि इसका प्रमाण चाहो तो जिस चिंवटी, जिस मक्खी, जिस मकड़ी को चाहो पकड़ कर देखलो। वही ईश्वर मनुष्य का भी पथ-प्रदर्शन करने वाला है। अब मनुष्य के लिये शुद्ध कार्यप्रणाली यह है कि स्वच्छन्दता छोड़कर उसके आगे नत मस्तक हो जाये और जिस

सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था या "अल-दीन" (धर्म-विशेष) का आदेश उसने अपने पैग़म्बरों (सन्देष्टाओं) द्वारा भेजा है उसका अनुसरण स्वीकार करले। देखिये एक ओर वह परिणाम है जो मनुष्य की शक्तियों और उसके साधकों का समीक्षण करने से हमको प्राप्त होता है और दूसरी ओर .कुर्आन का यह दावा है। हमारे लिये इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं कि या तो इस दावे को स्वीकार करें या फिर अपने आपको निराशा और उस निराशा के हवाले करदें जिस के अन्धकार में कहीं नाम के लिये भी आशा की कोई किरण दिखाई नहीं देती। वास्तव में परिस्थिति यह है ही नहीं कि "अल-दीन" प्राप्त होने के दो साधन उपस्थित हों और प्रश्न यह हो कि हम उसमें से किस साधन से सहायता लें। वास्तविक परिस्थिति यह है कि "अल दीन" जिस साधन से हमको मिल सकता है वह केवल एक है और चुनाव का प्रश्न केवल इस बारे में है कि क्या हम इस अकेले साधन से सहायता लें या उसकी सहायता का लाभ उठाने की जगह अन्धकार में भटकते फिरने को पसन्द करें ?

.कुर्आन के तर्क—यहाँ तक जो तर्क मैंने उपस्थिति किया है वह तो हमको केवल इस सीमा तक पहुचाता है कि हमारे कल्याण के लिये .कुर्आन के इस दावे को स्वीकार किये बिना कोई मार्ग नहीं है-- अर्थात् दूसरे शब्दों में नास्तिक नहीं हो सकता तो बाध्य होकर आस्तिक हो जा, किन्तु .कुर्आन अपने दावे के समर्थन में जो तर्क उपस्थित करता है वह इससे अत्यधिक महान् और श्रेष्ठ है क्योंकि वह हमें अरुचि से मुसलमान [आज्ञा पालक] होने के स्थान पर प्रसन्नता और सुरुचि से मुसलमान होने के लिये तत्पर करते हैं। उसके बहुत से तर्कों में से चार सबसे शक्तिशाली हैं और उन्हीं को उसमे बार-बार निरन्तर उपस्थित किया है।

१—मनुष्य के लिये "इस्लाम" [आज्ञा पालन] ही एक शुद्ध जीवन-प्रणाली है इस लिये कि यही वास्तविक उद्देश्य के अनुसार है और उसके अतिरिक्त हर दूसरा मार्ग सत्यता के विरुद्ध है।

अर्थात्—क्या यह लोग अल्लाह के दीन के अतिरिक्त कोई और दीन चाहते हैं, हालां कि वह सब वस्तुयें जो आकाशों में हैं और जो पृथ्वी में हैं प्रसन्नता और अप्रसन्नता से उसी के आगे नतमस्तक हैं और उसी की ओर उन्हें पलट कर जाना है।

[आले इरमान-६]

२—मनुष्य के लिये यही एक शुद्ध जीवनप्रणाली है क्योंकि यही सत्य है और न्यायतः इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग शुद्ध नहीं हो सकता।

अर्थात्—वास्तव मे तुम्हारा पालन-कर्त्ता (प्रभू और आज्ञादाता) तो अल्लाह है जिसने आकाशों और पृथ्वी को ६ युगो में उत्पन्न किया और फिर अपने राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, जो दिन को रात्रि का वस्त्र उढ़ाता है और फिर रात्रि का पीछा करते हुये दिन तीव्र गति से दौड़ा आता है! सूर्य, चन्द्रमा और तारे सब के सब जिसकी आज्ञा के आधीन है, सुनो, सृष्टि उसी की है और आज्ञा भी उसी की, बड़ी बरकत वाला है वह सृष्टि का पालन कर्त्ता। [आराफ ७]

३—मनुष्य के लिये यही प्रणाली शुद्ध है क्योंकि समस्त सत्यों का वास्तविक ज्ञान केवल परमेश्वर ही को है और निर्दोष पथ-प्रदर्शन केवल वही कर सकता है—

अर्थात् वास्तव में अल्लाह से न पृथ्वी की कोई वस्तु छिपी हुई है और न आकाश की। [कुर्आन]

अर्थात्—जो कुछ लोगों के सामने है उसे भी वह जानता है और जो कुछ उनसे ओझल है वह भी उसके ज्ञान में है और लोग

उसकी जानकारियों में से किसी वस्तु को भी घेर नहीं सकते उन वस्तुओं के अतिरिक्त जिनका ज्ञान वह स्वयं उनको देना चाहे।

अर्थात्—ऐ पैग़म्बर ! कह दो कि निसन्देह वास्तविक पथ-प्रदर्शन केवल अल्लाह ही का पथ-प्रदर्शन है।

४—मनुष्य के लिये यही एक सीधी राह है क्योंकि उसके बिना न्यायसम्भव नहीं इसके अतिरिक्त जिस मार्ग पर भी मनुष्य चलेगा वह अन्त में अन्याय ही की ओर जायगी।

अर्थात्—जो अल्लाह की ठहराई हुई सीमाओं का उल्लंघन करते हैं वह अन्यायी हैं। [.कुर्आन]

अर्थात्—जो अल्लाह के उतारे हुये आदेश के अनुसार निर्णय नहीं करते वह लोग अन्यायी हैं। [.कुर्आन]

यह तक हैं जिनके आधार पर हर औचित्य-प्रिय मनुष्य के लिये अनिवार्य हैं कि वह ईश्वर के आगे मस्तक नत कर दे और मार्ग-प्राप्ति के लिये उसी के सम्मुख उपस्थित हो!

ईश्वरीय पथ-प्रदर्शन के परखने की कसौटी—अब आगे बढ़ने से पहले मैं एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक समझता हूँ जो अनिवार्यतः इस स्थान पर पहुंच कर हर व्यक्ति के मन में उत्पन्न होता है और अपने अध्ययन के बीच स्वयं मेरे मन में भी उत्पन्न हो चुका है। वह प्रश्न यह है कि क्या हम हर उस व्यक्ति की बात मान लें जो एक धर्म हमारे सामने इस दावे के साथ उपस्थित कर दे कि यह ईश्वर की ओर से है? यदि ऐसा नहीं है तो आख़िर हमारे पास वह कौन सी कसौटी है जिस से हम मनुष्य के बनाये हुये धर्म और ईश्वरीय आदेश के धर्म के अन्तर को समझ सकें? इसका उत्तर यद्यपि बड़ा लम्बा-चौड़ा विवेचनात्मक विवाद चाहता है, किन्तु मैं यहाँ संक्षिप्त

संकेतों में वह चार बड़ी कसौटियाँ उपस्थित करूंगा जो मानवीय बिचार और ईश्वरीय बिचार को एक दूसरे से भिन्न करती हैं।

मानवीय बिचार की प्रथम महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान की त्रुटि और सीमित्व का प्रभाव अनिवार्यतः पाया जाता है और इसके विपरीत ईश्वरीय बिचार में असीमित ज्ञान और वास्तविक ज्ञान की श्रेष्ठता पूर्ण रूपेण प्रकट होती है। जो वस्तु ईश्वर की ओर से होगी उसमें आप ऐसी कोई वस्तु नहीं पा सकते जो कभी किसी काल में किसी सिद्ध वैज्ञानिक सत्य के विरुद्ध हो या जिसके विषय में यह सिद्ध किया जा सके कि इसके रचयिता की दृष्टि से सत्य का अमुक विषय ओझल रह गया। किन्तु इस खोज की कसौटी का प्रयोग करते हुए यह बात न भूल जाइये कि ज्ञान और ज्ञानात्मक कल्पना और ज्ञानात्मक सिद्धान्त में बड़ा अन्तर है। एक समय में जो ज्ञानात्मक कल्पना और ज्ञानात्मक सिद्धान्त मस्तिष्कों पर छाये हुए होते है अधिकांश भांति से उनको ज्ञान समझ लिया जाता है, हालांकि उनके असत्य होने की भी उतनी ही सम्भावना होती है जितनी उनके सत्य होने की, और ज्ञान के इतिहास में ऐसी बहुत कम कल्पनाओं तथा दृष्टि-कोणों का पता बताया जा सकता है जो अन्ततः ज्ञान सिद्ध हुए हों।

मानवीय विचार की दूसरी बड़ी दुर्बलता दृष्टिकोण की संकुचिता है, और इसके विपरीत ईश्वरीय बिचार में अति विस्तृत दृष्टिकोण पाया जाता है। जब आप ईश्वरीय विचार से निकली हुई किसी वस्तु को देखेंगे तो आपको ऐसा अनुभव होगा मानो उसका रचयिता आदि से अंत तक देख रहा है, पूरी सृष्टि को देख रहा है, समस्त वास्तविकताओं को एक दृष्टि में देख रहा है, उसके सम्मुख बड़े से बड़े दार्शनिक और बिचारक का विचार भी एक बालक का विचार ज्ञात होगा!

मानवीय विचार की तीसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें ज्ञान, विज्ञान, भावों और इच्छाओं के साथ कहीं न कहीं साँठ-गाँठ और

संधि करते दिखाई दे ही जाते हैं इसके विपरीत ईश्वरीय विचार में बेलाग विज्ञान और शुद्ध बुद्धिमता की महानता इतनी प्रगट होती है कि उसकी आज्ञाओं में कहीं आप भावात्मक झुकाव का चिन्ह नहीं दिखा सकते। मानवीय विचार की एक और बड़ी दुर्बलता यह है कि जो जीवन-व्यवस्था वह स्वयं निर्माण करेगा उसमें पक्षपात, मनुष्य और मनुष्य के बीच बुद्धि-विरुद्ध भेद, और ज्ञानहीन आधारों ही पर किसी को किसी पर श्रेष्ठता देने का तत्व अनिवार्यतः पाया जायेगा क्योंकि हर मनुष्य की कुछ व्यक्तिगत रुचियाँ होती हैं जो कुछ मनुष्यों के साथ सम्बन्धित होती हैं और कुछ के साथ सम्बन्धित नहीं होतीं। इसके विपरीत ईश्वरीय विचार से निकली हुयी जीवन व्यवस्था ऐसी प्रत्येक वस्तु से पूर्ण रूपेण शुद्ध होगी। इस कसौटी पर आप हर उस जीवन-व्यवस्था को जाँच कर देखिये जो अपने आपको ईश्वर की ओर से अल-दीन (धर्म–विशेष) कहता हो। यदि वह मानवीय विचार की उन समस्त विशेषताओं से रिक्त हो और फिर पूर्णता और सर्व व्यापकता की वह श्रेष्ठता भी रखता हो जो इसके पूर्व मैंने 'अल-दीन' की आवश्यकता सिद्ध करते हुये बयान की है तो कोई कारण नहीं कि आप उसपर विश्वास करने में हिचक से काम लें।

ईमान की मांगें:–

अब मुझे अपने विषय के बुनियादी प्रश्नों में से अन्तिम प्रश्न पर कुछ वार्ता करनी है। और वह यह है कि मनुष्य जब क़ुर्आन के इस दावे को स्वीकार कर ले और उस 'अल-दीन" पर ईमान ले आये जिसके ईश्वर की ओर से होने का सन्तोष उसे प्राप्त हो गया हो तो इसे स्वीकार करने और ईमान लाने की मांगें क्या हैं?

मैं आरम्भ में निवेदन कर चुका हूँ कि इस्लाम के अर्थ झुक जाने, हथियार डाल देने, अपने आपको सौंप देने के हैं। इस झुकाव,

समर्पण और हथियार डाल देने के साथ स्वच्छन्दता, स्वाधीनता, और विचार एवं आचरण की स्वतंत्रता कभी नहीं निभ सकती। जिस धर्म पर भी आप विश्वास करें आप को अपना पूरा व्यक्तित्व उसके हवाले कर देना होगा। अपनी किसी वस्तु को भी आप उसके अनुसरण से अलग नहीं रख सकते। विश्वास (ईमान) की माँग यह है कि वह आपके हृदय और मस्तिष्क का धर्म हो, आपके नेत्र, और कान का धर्म हो, आपके हाथ और पाँव का धर्म हो, आपके पेट और धड़ का धर्म हो, आपके कलम और जबान का धर्म हो, आपके समय और आपके परिश्रमों का धर्म हो, आपके प्रयास और कार्य का धर्म हो, अर्थात्, आपके व्यक्तित्व का कोई भाग और विषय भी इस धर्म से बाहर न हो। जिस वस्तु को भी जितना और जिस रूप से आप उस धर्म क्षेत्र से बाहर और उसके अनुकरण से अलग रक्खेंगे, समझ लीजिये कि उतना ही आपके ईमान के दावे में झूठ सम्मिलित है और हर सत्यवादी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपने जीवन को झूठ से बचाये रखने की अधिक से अधिक चेष्टा करे।

फिर यह भी मैं आरम्भ में निवेदन कर चुका हूँ कि मानव-जीवन एक सर्वस्व है जिसे विभागों में बाँटा नहीं जा सकता, अतः सम्पूर्ण मानवजीवन का एक ही धर्म होना चाहिये। दो-दो और तीन-तीन धर्मों का एकही समय में अनुकरण इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि यह विश्वास के डांवाडोल और बौद्धिक-निर्णय के विचलित होने का प्रमाण है। जब वास्तव में किसी धर्म के "अल-दीन" होने का विश्वास आप प्राप्त करलें और उस पर आप ईमान ले आयें तो अनिवार्यतः उसको आपके जीवन के समस्त विभागों का धर्म होना चाहिये। यदि वह व्यक्तिगत-रूप से आपका धर्म है तो कोई कारण नहीं कि वही आपके घर का भी धर्म न हो, आप की संतान की शिक्षा-दीक्षा का, आपकी शिक्षा और आपकी

पाठशाला का, आप के व्यवहार का और जीविका-उपार्जन का, आपके समाजीजीवन का और राष्ट्रीय काय प्रणाली का, आपकी संस्कृति और राजनीति का, आपके साहित्य और कला का, धम भी न हो, जिस प्रकार यह बात असम्भव है कि एक-एक मोती अपनी-अपनी जगह तो मोती हो किंतु जब माला की डोर में बहुत से मोती पिरोये हों तो सब मिलकर चने के दाने बन जायें, इसी प्रकार यह बात भी मेरे मस्तिष्क को अपील नहीं करती की व्यक्तिगत रूप से तो हम एक धर्मके मानने वाले हों किन्तु जब अपने जीवन को व्यवस्थित करें तो उस व्यवस्थित-जीवन का कोई विषय उस धर्म के आज्ञापालन से बञ्चित रह जाय।

इन सबसे बढ़कर, ईश्वर पर विश्वास की महत्वपूर्ण मांग यह है कि जिस धर्मके "अलदीन" (धर्म विशेष) होने पर आप ईमान लायें उसके लाभों से अपनी समस्त जाति को लाभ पहुंचाने की चेष्ठा करें, और आपकी समस्त चेष्टा और प्रयास का केन्द्र और धुरी यह हो कि यही "अल-दीन" समस्त संसार का धर्म बन जाये। जिस प्रकार सत्य की प्रकृति यह है कि वह सत्ता प्राप्त होकर रहना चाहता है, इसी प्रकार सत्य-वादिता को भी यह मुख्य प्रकृति है कि वह सत्य को जान लेने के बाद असत्य पर उसका प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा किये बिना चैन नहीं ले सकती जो व्यक्ति। देख रहा हो कि असत्य हर ओर पृथ्वी और उसके निवासियों पर छाया हुआ है और फिर यह दृष्य उसके अंतर में कोई विकलता, कोई चुभन, कोई तड़प उत्पन्न नहीं करता उसके हृदय में यदि सत्यवादिता है भी तो सोई हुई है, उसे चिन्ता करनी चाहिये कि निद्रा की मौनता कहीं मृत्यु की मौनता में परिवर्तित न हो जाये।

हमारी अन्य पुस्तकें

(१) इस्लाम प्रबोधिनी	२)
(२) विश्व पथ-प्रदर्शक	।-)
(३) सत्य-धर्म	।=)
(४) शान्तिमार्ग	।-)
(५) बनाव बिगाड़	।-)
(६) जीवनः मृत्यु के पश्चात	≡)
(७) नमाज़	॥)
(८) मुअल्लिमे नमाज़	॥)
(९) हिन्दुस्तान का नव निर्माण तथा हम	॥=)

बच्चों के लिये:-

(१०) हमारी पोथी प्राइमर	।=)
(११) ,, ,, प्रथम भाग	।=)
(१२) ,, ,, द्वितीय भाग	।।।)
(१३) ,, ,, तृतीय भाग	।।।=)

मक्तबा जमाअते इस्लामी (हिन्द) रामपुर उ० प्र०